दलित सरपंचों का मामलाः ग्रामीण भारत में राजनीतिक आरक्षण और अस्पृश्यता का उदय
Dalit Sarpanches Matter: Political Reservations and the Evolution of Untouchability in Rural India

साइमन चौचर्ड
Simon Chauchard
June 4, 2012

भारत इस वर्ष 73 वें संशोधन की 20 वीं सालगिरह मना रहा है. इस संशोधन में परिभाषित आधुनिक पंचायती राज का सबसे अधिक उल्लेखनीय पहलू है, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से लेकर गाँवों तक के राजनीतिक पदों (प्रधान, सरपंच और वार्ड के सदस्य) का व्यवस्थित आरक्षण. परंपरागत रूप में प्रभावशाली जातिगत वर्ग समूहों के जबर्दस्त आरंभिक विरोध के बावजूद ये आरक्षण भारत के अधिकांश राज्यों में अनेक चुनावी चक्रों के दौरान लागू कर दिए गए हैं और इससे अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के हज़ारों प्रत्याशियों का चुनाव पक्का हो गया है. अन्यथा इनका चुनाव न हो पाता.

यद्यपि राष्ट्रीय और राज्य स्तर के और संघीय चुनावों में दलित मतदाताओं की ताकत बढ़ने से उन्हें महत्व मिलने लगा है, फिर भी भारत सरकार के हस्तक्षेप के बिना स्थानीय पदों पर भी अनुसूचित जाति के प्रत्याशियों का चुनाव नहीं हो पाता. ग्रामीण संस्थाएँ और आम तौर पर यदि कहा जाए तो ग्रामीण भारत अभी-भी जातिगत संकीर्णता का अड्डा बना हुआ है. इस संबंध में धीमी, किंतु उल्लेखनीय प्रगति के बावजूद हाल ही के व्यावहारिक अध्ययनों ने यह दर्शाया है कि भारी भेदभाव अभी भी कायम है. भारत के अग्रणी समाजविज्ञानियों द्वारा ''ग्रामीण भारत में अस्पृश्यता'' विषय पर किए गए 2006 के राष्ट्रव्यापी अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अनुसूचित जाति के सदस्यों और अन्य जाति के अधिकांश सदस्यों के मेलजोल में अभी-भी भेदभाव बना हुआ है. रोज़मर्रे के भेदभाव के दर्जनों उदाहरणों के बीच अनुसूचित जाति के सदस्य 50 प्रतिशत से अधिकांश सर्वेक्षित गाँवों के मंदिरों में अभी-भी प्रवेश नहीं कर पाते हैं. 45 प्रतिशत से अधिक गाँवों में उन्हें पानी की सुविधा नहीं मिल पाती है और 30 प्रतिशत से अधिक गाँवों में वे अन्य गाँव वालों के साथ बैठ नहीं पाते हैं अर्थात् उनके साथ हुक्का-पानी की सुविधा भी नहीं है. खेद का विषय यह है कि अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति के विरुद्ध अत्याचार और शारीरिक हिंसा आज भी आम बात है और इन चुनाव क्षेत्रों से जुड़े अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति के ग्रामीणों का भी यही हाल है.

इस संदर्भ में देश भर के गाँवों में हुए इन चुनावों को अपने-आप में ही भारतीय लोकतंत्र की उपलब्धि माना जा सकता है. सरकारी नौकरशाही द्वारा इतने अभूतरपूर्व सुधारों को सफलतापूर्वक लागू करना कोई मामूली बात नहीं है. लेकिन जहाँ एक ओर ये आरक्षण राज्य प्रशासन की शक्ति को दर्शाते हैं, वहीं व्यावहारिक रूप में सार्थक सामाजिक कायाकल्प का मूल्यांकन करना अभी भी कठिन है.परंतु क्या स्थानीय स्तर पर राजनैतिक प्रतिनिधित्व में संवैधानिक प्रावधान के कारण अनुसूचित जाति / अनुसूचित जनजाति से जुड़े ग्रामीण लोगों को भी व्यावहारिक रूप में कोई लाभ हुआ है?

पिछले तीन वर्षों में मैंने सरपंच के प्रमुख पद के लिए अनुसूचित जाति के सदस्यों के आरक्षण के संबंध में राजस्थान से कुछ आँकड़े जुटाए हैं. अनेक दर्जन अनुसूचित जाति और अन्य वर्गों के सरपंचों के साक्षात्कार और अन्य वर्गों के गाँवों के बड़े पैमाने पर किए गए सर्वेक्षण से यही सामान्य निष्कर्ष निकलता

हैः जहाँ एक ओर अनुसूचित जाति का सरपंच होने से औसत रूप में अनुसूचित जाति के लोगों को कोई खास लाभ नहीं होता, वहीं इन आरक्षणों से सामाजिक परिवर्तन की नींव तैयार होती है, जो अपने आपमें काफ़ी महत्वपूर्ण है.

क्या कारण है कि हमें ऐसा लगता है कि अनुसचित जाति के सरपंच के अधीन अनुसचित जाति के गाँव वालों द्वारा अर्जित भौतिक संपत्ति बहुत कम होती है? यद्यपि मूल रूप में इसका कारण संभवतः बजटीय व्यवस्था है- ग्राम पंचायतों द्वारा वितरित संसाधन बहुत अधिक नहीं होते और अनुसचित जाति के सरपंचों के पास इतने संसाधन नहीं होते कि वे अन्य जाति के लोगों की भलाई के लिए बहुत कुछ कर सकें. इसके कारण कहीं अधिक जटिल हैं. यद्यपि ग्राम पंचायतों के संसाधन विपुल मात्रा में तो नहीं होते, लेकिन इतने भी कम नहीं होते कि गाँव के सबसे अधिक वंचित लोगों के जीवन में भारी अंतर न ला सकें. यदि मतदाता इस तथ्य से भलीभाँति अवगत नहीं होते तो ग्राम पंचायतों के चुनाव में इतना घमासान नहीं होता?

मिले-जुले पहलुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आखिर क्यों अनुसूचित जाति के सरपंच अनुसूचित जाति के ग्रामीणों का भला करने में असमर्थ रहते हैं? पहला पहलू तो यह है कि वहाँ पर अस्पृश्यता किस हद तक मौजूद है, क्योंकि अनुसूचित जाति के सरपंचों को वह अधिकार और सम्मान प्राप्त नहीं है जो परंपरागत रूप में सरपंचों को प्राप्त होता है.दूसरा पहलू यह है कि स्थानीय राजनीतिक संदर्भ में अनुसूचित जाति के सरपंच की अनुसूचित जाति के ग्रामीणों की मदद करने की क्षमता सीमित होती है. चुनावी दृष्टि से देखें तो सफल अनुसूचित जाति के सरपंच बहुजातीय समीकरण पर ही निर्भर रहते हैं और अपने ही वर्ग के लोगों की मदद करने की छूट उन्हें नहीं मिलती है. वस्तुतः अनुसूचित जाति के सरपंच अन्य वर्गों पर निर्भर रहते हैं और चरम मामलों में प्रभावशाली स्थानीय दिग्गजों के ऐवजी के रूप में ही काम करते हैं. अनुसूचित जाति के सरपंचों की सबसे बड़ी समस्या है पंचायत व्यवस्था का अपना संस्थागत ढाँचा, जिसमें वार्ड के सदस्य खास तौर पर कमज़ोर या ''गैर-कानूनी'' समझे जाने वाले सरपंचों के मामले में अपने कद से बड़ी भूमिका अदा करते हैं. अंततः अनुसूचित जाति के ग्रामीण सरपंच के पदासीन होने से गबन और व्यक्तिगत लाभ के कारण उसकी पुनर्वितरण की क्षमता सीमित रह जाती है. राजनीतिज्ञों की इस नई पौध से इस प्रथा से अलग हटकर काम करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती. प्रसंगवश जिन अनेक ग्रामीणों से मैंने सरपंच के परिवार के लिए अर्जित की गई व्यक्तिगत संपत्ति के बारे में बात की, उन्होंने इसे आरक्षण का सकारात्मक पहलू ही बताया, जिसका अर्थ यह है कि भ्रष्टाचार की जमी-जमाई व्यवस्था में पारी की व्यवस्था अधिक बेहतर है.

यदि अनुसूचित जाति के सामान्य ग्रामीणों को आरक्षण से भारी लाभ नहीं मिलता है तो आरक्षण से क्या लाभ है? राजनीतिक प्रतिनिधित्व में इस नई घुसपैठ से ठीक उसी तरह से भारी परिवर्तनों के द्वार खुल गए हैं जैसे भारत के गाँवों में पहले से चली आ रही अस्पृश्यता के मामले में हुआ है.

अनुसूचित जाति के कमज़ोर, अक्षम और चालाक सरपंचों के मामले में भी आरक्षण के स्वतः ही दो परिणाम हो सकते हैं: इससे ग्रामीणों और गाँव की कम से कम प्रमुख दलित जाति के एक सदस्य के बीच संपर्क को बढ़ावा मिलता है और इससे दलित जाति के सदस्यों का स्थानीय अधिकारियों के साथ कुछ हद तक संपर्क बढ़ता है. गाँव वाले भी इस प्रकार के संरचनात्मक परिवर्तनों को गौण समझकर अक्सर उनकी अनदेखी कर देते हैं, लेकिन इसमें अनुसूचित जाति के सदस्यों के विश्वास पर दो प्रकार से प्रभाव डालने

की क्षमता होती हैः अनुसूचित जाति के सदस्यों के साथ मेलजोल के मानदंडों पर विश्वास और अनुसूचित जाति के ग्रामीण सदस्यों को मिले संरक्षण के स्तर को लेकर विश्वास.

दो ऑडियो सर्वेक्षणों (एक सर्वेक्षण अनुसूचित जाति के सदस्यों का और दूसरा गैर अनुसूचित जाति के सदस्यों का) की प्रतिक्रियाओं के अनुसार अनुसूचित जाति के सरपंचों के अनुभव से दोनों ही वर्गों के सदस्यों के बीच जातिगत संबंधों का मनोविज्ञान बदल जाता है. यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव बहुत सूक्ष्म और विशिष्ट होता हैः जहाँ एक ओर गाँव वाले आरक्षण के इस अनुभव को झेलते हुए भारी पैमाने पर अनुसूचित जाति के सदस्यों को लेकर लकीर के फकीर की तरह नकारात्मक धारणा बना लेते हैं, वहीं उन्हें एक नए सामाजिक और कानूनी मानदंड का भी एहसास होता है. निरंतर पूर्वाग्रह बने रहने के बावजूद अनुसूचित जाति के सरपंच को लगातार देखने के दैनिक अनुभव के कारण अधिक सहिष्णु मानदंडों का उदय होने लगता है और अनुसूचित जाति के सदस्यों के प्रति खुलेआम शत्रुता का भाव रखने के कारण वे दंड से भी नहीं बच पाते.

अस्पृश्यता के उदय को लेकर इतने सीमित स्तर के मनौवैज्ञानिक परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण क्यों हो जाते हैं? खास तौर पर किसी दृष्टि का प्रभाव मानदंडों पर क्यों पड़ता है? अस्पृश्यता से संबंधित व्यवहार को ब्राह्मण विचारधारा की अभिव्यक्ति के रूप में या वर्गों के बीच आम तौर पर सामाजिक-आर्थिक प्रतिद्वंद्विता की अभिव्यक्ति के रूप में ही देखा जाता है. किंतु इस प्रकार की मंशाएँ अस्पृश्यता की असाधारण बद्ध धारणाओं की आंशिक अभिव्यक्ति ही होती है. जैसा कि अधिकांश सामाजिक-मनौवैज्ञानिक अध्ययनों से पता चलता है कि सामाजिक मानदंडों के अनुरूप अपने को ढालने की इच्छा सहज ही होती है. इस मामले में एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व स्थापित करने का एक ऐसा मानदंड है, जिसके कारण सचमुच ही व्यक्तिगत स्तर पर भी लोगों का व्यवहार शत्रुतापूर्ण या भेदभावपूर्ण हो जाता है. इसे ध्यान में रखते हुए यह परिकल्पना उचित ही है कि सामाजिक और कानूनी मानदंड बदल रहे हैं और इनका उन प्रवृत्तियों पर दूरगामी प्रभाव होगा जिन्हें व्यक्ति अस्पृश्यता से संबंधित व्यवहार करने के लिए चुनता है. गाँवों के सवर्ण लोग जो अनुसूचित जाति के सरपंचों को झेलते हैं, गोपनीय साक्षात्कारों के दौरान भी कम ही स्वीकार कर पाते हैं कि वे अनुसूचित जाति के किसी ग्रामीण के प्रति खुले आम शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते हैं. अनुसूचित जाति के ग्रामीण लोग, जिन्होंने अनुसूचित जाति के किसी सरपंच को झेला है, स्वयं ही यह कह सकते हैं कि वे सवर्ण जाति के ग्रामीणों के सामने झुकेंगे नहीं और लकीर के फकीर भी नहीं बने रहेंगे. भले ही ये परिवर्तन आकार में छोटे नज़र आते हैं, लेकिन सभी आयु, शिक्षा और जातिगत समूहों के लोगों में ये परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं. ''आरक्षण'' की सामान्य नीति अतीत में किए गए अन्याय को धोने के लिए सबसे अच्छी नीति है या नहीं, यह अभी स्पष्ट नहीं है. आरक्षण की नीतियों के वास्तविक, मनोवैज्ञानिक और पारस्परिक प्रभाव पर और अधिक व्यावहारिक शोध होनी चाहिए. यदि हमें इन नीतियों से कुछ मूल्य ग्रहण करने हैं तो वे मूल्य पुनर्वितरण के प्रभाव से प्रकट नहीं होंगे, बल्कि हमारी धारणाओं के सूक्ष्म और परोक्ष परिवर्तनों से प्रकट होंगे. इस धारणा को मज़बूत करने से कि अस्पृश्यता से संबंधित व्यवहार बदल रहा है, अपेक्षाकृत छोटे और स्थानीय स्तर के आरक्षणों से भारत के गाँवों में बसे जातिगत समूहों के पारस्परिक संबंधों पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा.

साइमन चौचड़ डार्टमाउथ कॉलेज में शासन के सहायक प्रोफ़ेसर हैं. वह इन दिनों राजनीतिक आरक्षण और ग्रामीण भारत में अस्पृश्यता की प्रथा के बीच के संबंधों को उजागर करने के लिए एक पुस्तक पर काम कर रहे हैं.

हिंदी अनुवादः विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>